आचार्य शङ्कर का अध्यात्म–दर्शन

प्रो. सरोज कौशल, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में आचार्य शंकर आध्यात्मिक युग निर्माता दार्शनिक के रूप में अप्रतिम हैं। भारत की चिन्तन परम्परा में शंकराचार्य ने एक नूतन युग का सूत्रपात किया। आचार्य शंकर की रचनाओं पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो मुख्य रूप से उनको द्विधा विभक्त किया जा सकता है–

१. स्वतन्त्र ग्रन्थों के रचनाकार

२. प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार

प्रमुख उपनिषदों के भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य तथा बादरायण व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र का भाष्य रचकर आचार्य ने भाष्य–परम्परा को गौरव प्रदान किया। आचार्य शंकर के ग्रन्थों तथा भाष्यों पर यदि दृष्टिपात करें तो आध्यात्मिकता इनका मूलभूत सिद्धान्त प्रतीत होता है। काव्य की आत्मा जिस प्रकार 'ध्वनि' मानी जाती है, उसी प्रकार शांकरभाष्यों एवं सिद्धान्तों की आत्मा 'आध्यात्मिकता' ही है। आचार्य ने अपने ग्रन्थों एवं भाष्यों में अध्यात्म के सिद्धान्त तथा प्रयोग, दोनों को अनेकधा व्याख्यायित किया है।

जो आत्मा से सम्बन्धित हो उसे अध्यात्म कहा जाता है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में आध्यात्मिकता को परिभाषित करते हुए कहा –

'विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम्
अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो
हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज्जहाति।'[१]

चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में स्थिर कर देना अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग में स्थिर व्यक्ति हर्षशोकरहित हो जाता है। इस उद्धरण में यद्यपि अध्यात्मयोग को परिभाषित किया गया है तथापि यह लक्षण 'आत्मा से सम्बन्धित' इस अध्यात्म शब्दार्थ से एक सोपान अग्रगमन कर अवधारणा का

१ कठोपनिषद्, शां.भा. १/२/१२

स्पष्टीकरण कर रहा है। हम यह कह सकते हैं कि चित्त को विषयों से हटाना ही सर्वाधिक अपेक्षित है। आत्मा के प्रति प्रवृत्ति में सर्वाधिक बाधक चित्त की विषय-भोग प्रवृत्ति ही है।

'आध्यात्मिकता', आधिदैविकता एवं आधिभौतिकता की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय है क्योंकि आधिभौतिकता का सम्बन्ध सामान्य भूतों से होता है। दैविकता का सम्बन्ध देवों से है जो सामान्य प्राणियों की अपेक्षा उत्तम होते हैं। आत्मज्ञान में जिनका निर्बाध अधिकार होता है, वे इतर दोनों भेदों से उत्तम हैं। दैविकता के पश्चात् पुरुषार्थ-प्राप्ति का अन्तिम सोपान आध्यात्मिकता है। अत: आध्यात्मिकता आधिदैविकता से उत्तम है।

आचार्य शंकर ने अध्यात्मवाद की स्थापना सम्भवत: इसलिए की होगी कि यदि 'अध्यात्मवाद' का सत्यनिष्ठा के साथ आचरण किया जाये तो वर्तमान में भी सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है, क्योंकि अद्वैततत्त्व की स्वीकृति से ही शोक एवं मोह स्वयं नष्ट हो जाते हैं -

'तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:।'[२]

यदि भेददृष्टि है अथवा अनेकत्वदृष्टि है तो वह शोक एवं मोह के कुचक्र में फंस कर जीवन के परम लक्ष्य से च्युत हो जाता है। इस सूक्ति की व्यतिरेकविधि से व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं -

शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अजानतो भवति।[३]

अज्ञानी के लिए शोक एवं मोह कामवासनाओं एवं कर्मों का कारण बनते हैं। इस अंश से दो तथ्य प्रतिपादित किये गये -

शोक एवं मोह अज्ञानी के ही उत्पन्न होते हैं तथा शोक एवं मोह काम कर्मबीज बनते हैं। अत: शोक एवं मोह त्याज्य भावनायें हैं। इस अवधारणा की पूरकता शांकरभाष्यों में अनेकत्र उपलब्ध होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् के शांकरभाष्य में कामनाओं की अनर्थकारिता का कथन करते हुए कहा गया -

कामानां मिथ्याज्ञानप्रभवत्वादनर्थरूपत्वम्।[४]

कामनाएँ मिथ्याज्ञानमूलक होने से अनर्थकारी हैं। **कामी विशीर्णो भवति।**[५] कामनाएँ अनर्थ की मूल हैं। कामी की विशीर्णता भी यही प्रतिपादित करती है कि **कामात्मता न प्रशस्ता**। वर्तमान में चतुर्दिक्

२ ईशावास्योपनिषद् ७
३ ईशावास्योपनिषद्, शां.भा. ७
४ बृहदारण्यकोपनिषद्, शां.भा. २/१/२०
५ सनत्सुजातीय, शां.भा. १/१३

जो कामनाओं की अंधी दौड़ दृष्टिगोचर हो रही है उससे मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त करता है – अध्यात्म।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में आचार्य शंकर पुन:-पुन: कहते हैं – **न हि कामा हित: कस्यचित्।**[६] कामवासनायें किसी के लिए भी हितकर नहीं हैं अपितु अहितकर ही हैं। ये कामवासनायें जीवन के अनुशासन को भंग करती हैं। व्यक्ति को तृष्णा की मृगमरीचिका में धकेलती हैं। इन्हें पूर्ण करते-करते व्यक्ति मूल लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

आचार्य शंकर इस कामनारूपी सांसारिक दु:ख से मुक्त होने का नामकरण योग के रूप में करते हैं –

सर्वसंसारदु:खक्षयकृद् योगो भवति।[७]

संसार के समस्त दु:खों का क्षय योग कहलाता है। योग का यह शांकरलक्षण वस्तुत: विलक्षण है। यह योगलक्षण अध्यात्ममूलक है। आपातत: तो यह 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' इस आचार्य पतंजलिकृत योग लक्षण से विरुद्ध प्रतीत होता है परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया आलोचन करने पर इन दोनों लक्षणों में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। सांसारिक दु:खों का मूल भी चित्तवृत्तियों की पदार्थासक्ति ही है। चित्तवृत्तियों को अनात्म अथवा जड़ सांसारिक भोगों से अनासक्त करने अथवा निरुद्ध करने से संसार दु:खक्षय अवश्यम्भावी है। यही योग है।

कठोपनिषद् के शांकरभाष्य पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो हम यह कह सकते हैं कि आचार्य शंकर ने उपनिषद् के ऋषि के भावार्थ का व्याख्यान करते हुए अध्यात्म की बहुत सुन्दररीत्या स्थापना की है –

स त्वं पुन: पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन्
प्रियरूपांश्चाप्सर:प्रभृतिलक्षणान् कामान्
अभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषाम् अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे
नचिकेतोऽत्यस्राक्षी: परित्यक्तवानहो बुद्धिमत्ता तव।[८]

यमराज ने नचिकेता को अध्यात्मपथ के पथिक का प्रमाण पत्र प्रदान करते हुए कहा कि पुन: पुन: प्रलोभन दिये जाने पर भी कामनाओं का अनित्यता एवं असारता आदि दोषों के कारण तुमने त्याग

६ श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा.
७ श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. ६/१७
८ कठोपनिषद्, शां.भा. १/२/३

कर दिया। मूढजन प्रवृत्ति वाली इस वित्तमयी शृङ्खला से तुम पराङ्मुख ही रहे, तुम्हारी अध्यात्म प्रवृत्ति वस्तुत: श्लाघनीय है।

विवेकचूड़ामणि में भी आचार्य शंकर अनेकविधता से वासनात्याग का विधान करते हैं –

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया।।[९]

देह तथा इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थों में जो जीव का अहं तथा मम भाव है, इस प्रकार के अध्यास (आरोप) को आत्मनिष्ठा के द्वारा निरस्त कर देना चाहिए। देह के प्रति सामान्य सांसारिक प्राणियों की अत्यधिक आसक्ति दृष्टिगोचर होती है, इसी प्रकार इन्द्रिय तथा तद्ग्राह्य विषयों के प्रति जो आकर्षण हैं – इन सभी को आचार्य 'अनात्म वर्ग' में परिगणित करते हैं। यह अध्यास[१०] स्वात्मनिष्ठा से निरस्त किए जाने योग्य है।

आचार्य शंकर स्वतन्त्र ग्रन्थ–प्रणयन करते हुए विवेकचूडामणि में जिस अवधारणा को अभिव्यक्त करते हैं, भाष्यकार के रूप में भी उस अवधारणा के मूल को तत्तत् पारिभाषिकता में अभिव्यक्त करते हैं। उनके भाष्यों तथा ग्रन्थों में अध्यात्म की एकवाक्यता विशेषरूपेण ध्यातव्य है। मुण्डकोपनिषद् में अध्यात्म की सोपपत्तिक व्याख्या करते हुए कहा गया –

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या।
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतु:।।[११]

उस एक आत्मा को ही जानो; अन्य सब बातों को छोड़ दो, यही अमृत का सेतु है। आचार्य शंकर इसकी व्याख्या में यह स्पष्ट करते हैं कि 'आत्मानं .... च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपरविद्यारूपा विमुञ्चथ।' मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा विद्या का प्रसंग प्राप्त होता है। उसी के सन्दर्भ में यहाँ कहा गया कि जानने योग्य आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब अपरविद्यारूप बातों को छोड़ दो। इसमें आचार्य ने उपपत्ति प्रदान करते हुए कहा– यह आत्मज्ञान अमृत का सेतु है। 'संसारमहोदधे: उत्तरणहेतुत्वात्....।'

---

९ विवेकचूड़ामणि, २६९

१० 'अध्यास' वेदान्त दर्शन में पारिभाषिक पद है जिसके प्रसंग में शांकरभाष्य लक्षण करता है–अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। ब्रह्मसूत्र, शां.भा., पृ. १७

११ मुण्डकोपनिषद् २/२/५ शां.भा.

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी अन्य मार्ग की अनुपायता प्रदर्शित की गई है –

'**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**' '**अतिमृत्युमेति**' कहो अथवा '**अमृतस्यैष सेतुः**' कहो – प्रकारान्तर से पर्यायवद्भाव ही है। मुण्डकोपनिषद् का ऋषि '**अन्या वाचो विमुञ्चथ**' से अनात्म का निवारण करता है और श्वेताश्वतरोपनिषद् का ऋषि 'नान्यः पन्थ विद्यतेऽयनाय' अंश से अनात्म मार्ग की अनुपादेयता प्रतिपादित करता है।

विवेकचूडामणि में ग्रन्थकार शंकर ने भी अनात्मचिन्तन के निषेध तथा आत्मचिन्तन के विधेय का सोपपत्तिक निरूपण किया है –

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम्।।[१२]

दुःख के कारण और मोहरूप अनात्मचिन्तन का त्याग करके आनन्दस्वरूप आत्मचिन्तन करो। अनात्मचिन्तन आपाततः तो सुख का कारक प्रतीत होता है परन्तु उसकी परिणति दुःखरूप ही है अतः शंकराचार्य उस अनात्मचिन्तन (विषयोपभोग) की हेयता की स्थापना करते हैं। यदि अनात्म चिन्तन छोड़ दें तो क्या करें? इसका भी विधान है – आत्मचिन्तन करें। आत्मचिन्तन क्यों किया जाए? क्योंकि वह आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार आत्मचिन्तन की ओर अभिप्रेरित करते हुए आचार्य ने अध्यात्म के मार्ग से मुक्ति रूप शिखर का पथप्रदर्शन किया है।

अध्यात्म मार्ग में किसी भी प्रकार के आडम्बर की तृणमात्र भी अपेक्षा नहीं होती। आडम्बर करने वालों पर छान्दोग्योपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य प्रहार करते हुए कहते हैं –

'**न च पारिव्राज्याश्रमधर्ममात्रेणामृतत्वम्.....**'।[१३]

केवल संन्यास–वेशादि ग्रहण कर लेने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो जाती है। अपितु बाह्य परिवर्तन अथवा स्थूल परिवर्तन की उपेक्षा तथा सूक्ष्म परिवर्तन=चित्तवृत्तिसंयमन की अपेक्षा प्रतिपादित की गई है। भाष्यकार शंकर ही यह मत प्रकट कर रहे हैं, ऐसा नहीं है अपितु विवेकचूड़ामणिकार शंकर भी स्थूल लक्षणों के त्याग को 'मोक्ष' संज्ञा से अभिहित नहीं करते वस्तुतः वे अविद्यारूप ग्रन्थि से मुक्त होना ही मोक्ष है, यह मानते हैं क्योंकि अविद्याग्रन्थि ही समस्त अनर्थों का मूल है –

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः।।[१४]

---

१२ विवेकचूड़ामणि, ३८०

१३ छान्दोग्योपनिषद्, शां.भा. २/२३/१

१४ विवेकचूड़ामणि, ५५९

शंकराचार्य का मत है कि अनात्म पदार्थों की प्रवृत्ति मूल लक्ष्य से भ्रष्ट कर देती है। अत: जैसे-जैसे मन अन्तर्मुख होता जाता है, वैसे-वैसे ही वह बाह्य वासनाओं को छोड़ता जाता है –

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मन–
स्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासना:।।[१५]

यह मनोबल ही है जो शारीरिक बलवान् की अपेक्षा भी उत्कृष्ट माना जाता है।

बलिनो दृश्यन्ते लोके ध्यानाहाराश्च केचित्।[१६]

अध्यात्म का अधिकारी –

अध्यात्म के मार्ग में प्रवृत्त होने का अधिकारी भी कोई सामान्य नहीं हो सकता अपितु उसकी विशेष योग्यता प्रतिपादित की गई है। मुण्डकोपनिषद् के शांकरभाष्य में कहा गया –

अप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णाप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन
जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम्।[१७]

अप्रमत्त का दार्शनिक लक्षण है - बाह्यविषयोपलब्धि तृष्णारूप प्रमाद से रहित होना। सांसारिक पदार्थों एवं भोगों के प्रति जो दुर्निवार आकर्षण है, उससे रहित होना ही अप्रमाद है। ऐसी योग्यता से युक्त तथा एकाग्रचित्त से ही ब्रह्म रूप लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। 'भोगों से विरक्ति'-यह प्राथमिक रूपेण करणीय है तदनन्तर जितेन्द्रिय और एकाग्रचित्त विशेषण मन के वशीकरण का प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों और मन, दोनों को साधना परम अपेक्षित है। इन दोनों को साधने वाला ही अधिकारी है।

प्रमाद की अनेकविध व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर प्रकारान्तर से अथवा व्यतिरेक विधि से अध्यात्म का ही कथन करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रमाद का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं –

प्रमादो नाम प्राप्तकर्तव्याकरणम्।[१८]

---

१५ विवेकचूड़ामणि, २७७
१६ छान्दोग्योपनिषद्, ६/७/१
१७ मुण्डकोपनिषद्, शां.भा. २/२/४
१८ गीता, शां.भा. १४/९

निर्धारित कर्तव्य का पालन न करना ही प्रमाद है। शास्त्रों के द्वारा जो कर्तव्य रूप से निर्दिष्ट है यदि उसका पालन न किया जाये तो शंकराचार्य की दृष्टि में वह प्रमाद की श्रेणी में ही परिगणित किया जायेगा।

मोक्षोपलब्धि हेतु मुमुक्षु में निम्न अर्हताओं का होना अनिवार्य है - **अहिंसा–सत्य–ब्रह्मचर्य–सर्वत्याग–शमादिसम्पन्नः समाहितात्मा... विप्रमुच्यते कृतकृत्यो भवति इत्यर्थः।**[१९] जो मुमुक्षु शमादि साधनों से युक्त नहीं है, उसका ब्रह्मात्मविज्ञान रूप मोक्ष में सामर्थ्य नहीं है।[२०] केवल उक्त साधनों से सम्पन्न स्थितप्रज्ञ पुरुष ही संसारोपरमलक्षणा शान्ति को प्राप्त होते हैं।[२१]

आध्यात्मिक दृष्टि एवं प्रवृत्ति का फल –

अद्वैत के 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्', 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत' इत्याकारक श्रुति तथा स्मृतिवाक्य समानता का नूतन उद्घोष करते हैं। इस समानता का आधारभूत कारण अध्यात्म है। प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. आर.सी.प्रधान ने अपने शोधलेख में कहा –

It may be said in appreciation of Advaita that it is the first philosophical system to have discovered the principles of equality and justice. Advaita advocates the equality of men and women irrespective of caste, creed and gender, because they are born spiritually equal. The differences are the differences of name and form.[२२]

आत्मतत्त्व की एकता के आधार पर समानता का उद्घोष - यह अद्वैत वेदान्त के अपर पर्याय आचार्य शंकर का आध्यात्मिक अवदान कहा जा सकता है।

वर्तमान कालखण्ड में जब समानता पर विमर्श किया जाता है तो बाह्य उपकरणों के आधार पर समानता का आकलन किया जाता है। आचार्य शंकर का आध्यात्मिक समानता विषयक मत विलक्षण है। इस समानता का आधार आर्थिक अथवा राजनैतिक नहीं है अपितु आत्मा के स्तर पर समानता की कल्पना आचार्य शंकर द्वारा स्वीकृत अद्भुत विचार है। सुप्रथित विद्वान् डॉ. कर्ण सिंह ने Vedanta and its Universal Message नामक शोधालेख में अत्यन्त सारगर्भित टिप्पणी करते हुए कहा –

---

१९ मु.उ. शां.भा.-३/१/२

२० के.उ. शां.भा.-३/१

२१ स्थितप्रज्ञो ब्रह्मवित् शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणां
निर्वाणाख्याम् अधिगच्छति प्राप्नोति ब्रह्मभूतो भवति।-गी.शा.भा. २-२७

२२ Adi Shankar : Life and Philosophy, Pg. ३८१

..... All human beings, because of their shared spirituality, are members of single, extended family. The Vedas have a beautiful word for human being 'Amritasya Putra' children of immortality. It is an extra ordinary phrase ..... we carry within our consciousness the light and powers of the Brahman, regardless of our race or colours, our creed or sex, or any other differentiation.[२३]

इस साम्य का समर्थन मुण्डकोपनिषद् ने भी किया है –

तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।[२४]

आचार्य शंकर ने भाष्य में इसका अर्थ स्पष्टीकरण करते हुए अद्वयरूप साम्य को उत्कृष्ट साम्य बताया है।

'पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो
विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणं
द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येवातोऽद्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति
प्रतिपद्यते।।'[२५]

वह विद्वान् द्रष्टा पुण्य–पाप को समूल नष्ट करके निरञ्जन अर्थात् निर्लेप (क्लेशरहित) होकर अद्वयरूप उत्कृष्ट समता को प्राप्त हो जाता है। द्वैतविषयक समता इस अद्वैतरूप साम्य से निकृष्ट ही है।

मुण्डकोपनिषद् में अध्यात्म के एक अन्य तथा महत्त्वपूर्ण फल का निर्देश करते हुए कहा गया–

प्राणो ह्येषः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।[२६]

---

२३ Vedanta and its Universal Message, Indian view of life, Pg. १५६
२४ मु.उ. शां.भा. ३/१/३
२५ मुण्डकोपनिषद्, ३/१/३
२६ मुण्डकोपनिषद्, ३/१/४

जो प्राण के प्राण साक्षात् आत्मा को जानने वाला है वह अतिवादी नहीं होता। आचार्य शंकर कहते हैं कि **'सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत्। यस्य त्वपरम् अन्यद्दृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति।'**[२७]

यह विद्वान् तो आत्मा से भिन्न न कुछ देखता है, न सुनता है और न कुछ जानता ही है। इसलिए यह अतिवादन भी नहीं करता।

जीवन्मुक्त अवस्था

आचार्य शंकर के अध्यात्म की एक उच्चावस्था है – जीवन्मुक्त की अवस्था। 'विवेकचूडामणि' तथा 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह:' इन दोनों ग्रन्थों में आचार्य ने जीवन्मुक्त का लक्षण व्याख्याविकल्प के आश्रय से किया है। यह अध्यात्म की इतिकर्तव्यता प्रतीत होती है। यह एक ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था है जिसे आचार्य शंकर अनेक विवर्तों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं और इसका नामकरण भी इसके वैशिष्ट्य को रेखांकित करता है –

यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तर:।
प्रपञ्चो विस्मृतप्राय: स जीवन्मुक्त इष्यते।।[२८]

जिसकी प्रज्ञा स्थिर है जो निरन्तर आत्मानन्द का अनुभव करता है और प्रपञ्च को भूला-सा रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त की समदर्शिता का कथन करते हुए कहा गया-इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में समानभाव रखने के कारण दोनों ही अवस्थाओं में चित्त में कोई विकार न होना जीवन्मुक्त का ही लक्षण है।[२९]

आचार्य शंकर पुन:-पुन: यह कथन करते हैं कि ब्रह्मतत्त्व को जान लेने पर विद्वान् को पूर्ववत् संसार की आस्था नहीं रहती और यदि फिर भी आस्था बनी रहती है तो यह समझना चाहिए कि वह तो संसारी ही है उसे ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान ही नहीं हुआ।[३०]

---

२७ मुण्डकोपनिषद्, ३/१/४

२८ विवेकचूड़ामणि, ४२९

२९ इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि। – विवेकचूडामणि, ४३५
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।।

३० विवेकचूडामणि, ४४३

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में १००६ श्लोकों के माध्यम से शंकराचार्य ने वेदान्त के सिद्धान्तों का व्याख्यान किया। इसमें भी जीवन्मुक्त का विस्तार से निरूपण प्राप्त होता है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते।।[३१]

किसी भी कर्म को करते हुए अथवा न करते हुए जिससे अहं भाव जागृत नहीं होता और जिसकी बुद्धि उसमें लिप्त नहीं होती वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

इस सम्पूर्ण प्रसंग में यदि दृष्टिपात किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि जीवन्मुक्त संसार में वर्तन की एक प्रकृष्ट प्रक्रिया है। प्रकारान्तर से यह अवस्था आध्यात्मिकता का निकष है। वेदान्त की अध्यात्म दृष्टि निवृत्तिपरक न होकर प्रवृत्तिपरक है और प्रवृत्ति की विधि जीवन्मुक्त के व्याज से अभिव्यक्त होती है– ऐसा कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आचार्य शंकर भाष्यकार के रूप में तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणेता के रूप में हमारी परम्परा में सुप्रथित हैं। उपनिषदों के भाष्यकार के रूप में यद्यपि भाष्यकार शंकर को इतनी अधिक स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हुई जितनी कि ब्रह्मसूत्र की भाष्य–रचना में प्राप्त हुई। तत्तु समन्वयात् ब्रह्मसूत्र १/१/४ में उन्होंने बहुत विस्तृत भाष्य–लेखन किया। वस्तुत: अनेक स्थलों पर यह भाष्य स्वतन्त्र लेख के रूप में भी प्रतीत होता है। पूर्वपक्ष के रूप में पूर्वमीमांसा के अनेक पक्ष हैं। भाष्यकार शंकर उनके पूर्वपक्ष का प्रबल खण्डन करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्म के विषय में श्रूयमाण लिंगादि वाक्य भी अनियोज्य विषयक होने के कारण पत्थर आदि में प्रयुक्त उस्तरे की तीक्ष्ण धार के समान कुण्ठित हो जाते हैं। ब्रह्म अहेयानुपादेयवस्तु विषयक है। इस सिद्धान्त पक्ष पर पुन: पूर्वपक्षी का आक्षेप है –

'किमर्थानि तर्हि आत्मावारे द्रष्टव्य: श्रोतव्य: इत्यादीनि विधिच्छांयानि वचनानि? स्वाभाविक प्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानि इति ब्रूम:।'

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य:.....' आदि विधिवाक्य स्वाभाविक प्रवृत्ति विषय वाले भोगों से विमुख करने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। जो पुरुष बाह्य विषयों में 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इस भावना से प्रवृत्त होता है, वह उन विषयों से आत्यन्तिक पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकता। उस आत्यन्तिक पुरुषार्थ के अभिलाषी को 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य:' इत्यादि वाक्य कार्य करण समुदाय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषयों से हटाकर उसकी चित्तवृत्ति को अन्तरात्मा की ओर प्रवाहरूप से प्रवृत्त करते हैं।

३१ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, ९७१

ब्रह्मात्मभाव की अहेयता तथा अनुपादेयता कोई दोष नहीं है अथवा अप्रवृत्ति का कारण नहीं है। आचार्य शंकर ने इस अध्यात्मवाद के फल को गौरवरूप में स्वीकार करते हुए कहा –

'अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति।'[३२] यह वेदान्त सम्प्रदाय के लिए अलंकार है कि ब्रह्मात्मभाव होने पर सर्वकर्तव्यता हानि और कृतकृत्यता हो जाती है।

इस उद्धरण के माध्यम से आचार्य शंकर ने ब्रह्मावगति अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार के फल का निर्देश किया और वह फल निवृत्तिपरक नहीं है। सांसारिक भोगों से औदासीन्य का निर्देश है जीवन से नहीं। यही वेदान्त का अलंकार है। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित 'लोकसंग्रह' का सिद्धान्त बहुत व्यावहारिक है और वेदान्त की अध्यात्म विषयक अवधारणा के सम्भावित आक्षेपों का भी निराकरण करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रयुक्त 'लोकसंग्रह' एक पारिभाषिक पद (Technical Term) है। भगवान् कृष्ण मोह से आक्रान्त अर्जुन को जनकादि राजा जैसे महापुरुषों की कर्मविधि का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।[३३]

जनकादि राजागण भी कर्म के द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। अतः लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू (निष्काम) कर्म करने के योग्य हैं।

लोकसंग्रह का तात्पर्य है – लोकमर्यादा सुरक्षित रखने के लिए, लोगों को असत् से विमुख करके सत् के सम्मुख करने के लिए निःस्वार्थभावपूर्वक कर्म करना। गीता इसी भाव को 'यज्ञार्थ कर्म' के नाम से भी कहती है। अपने आचरणों एवं वचनों से लोगों को असत् से विमुख करके सत् के सम्मुख कर देना बहुत बड़ी सेवा है क्योंकि सत् के सम्मुख होने से लोगों का उद्धार अवश्यम्भावी है। शांकरभाष्य में इसी भाव की अभिव्यक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं –

तथापि प्रारब्धकर्मायत्तः त्वं लोकसंग्रहम् एव अपि लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्ति निवारणं लोकसंग्रहः; तम् एव अपि प्रयोजनं संपश्यन् कर्तुमर्हसि।[३४]

---

३२ ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १/१/४, पृ. १६ (सत्यानन्दी दीपिका)

३३ श्रीमद्भगवद्गीता, ३/२०

३४ श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. ३/२०

लोकसंग्रह किसको करना चाहिए तथा किसलिए करना चाहिए। इस प्रसंग में भी श्रीमद्भगवद्गीता जीवन विधि का प्रदर्शन करती है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।[३५]

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करता है, दूसरे लोग उसके अनुयायी होकर तत्-तत् कर्म का ही आचरण किया करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के द्वारा विश्लेषित प्रत्येक दार्शनिक पारिभाषिक अवधारणा 'अध्यात्म' में ही पर्यवसित होती है। अध्यात्म विषयक यह एकवाक्यता अन्ततः महावाक्यता का सम्पादन करती है। महावाक्य आकार की दृष्टि से नहीं होता अपितु भारतीय दर्शन विशद अर्थ की व्यंजना करने वाले लघु वाक्य को भी महावाक्य कहता है और आचार्य शंकर की अध्यात्म विषयक महावाक्यता अनिर्वचनीय है।

उपसंहार – आचार्य शंकर की अध्यात्म दृष्टि के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं –

१. अध्यात्म विषयक अवधारणा केवल मात्र दार्शनिक ऊह नहीं है वरन् जीवन के लिए वरेण्य पद्धति है। शंकराचार्य की आध्यात्मिक विचारधारा निवृत्तिपरक नहीं है अपितु उत्कृष्ट एवं सार्थक प्रवृत्तिपरक है।

२. सभी में आत्मा का अन्वेषण अथवा स्वीकारोक्ति संकुचित प्रवृत्तियों के त्यागपूर्वक एक विराट आध्यात्मिक ऐक्यरूप उच्च धरातल पर आरूढ़ करा देती है –

Once we really start moving upwards in the field of spiritual endeavour, we will find all our denomination and intellectual differences gradually losing their importance, and as we rise to the summit we will realize the spiritual oneness of humanity.

३. सांसारिक विषयोपभोग के प्रति आसक्ति से विरक्ति का भाव।

४. आध्यात्मिक समाज से आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के अनुपम साध्य के प्रति प्रवृत्ति।

५. ससीम से असीम की ओर सत्प्रवृत्ति।

---

३५ गीता, ३/२१

संदर्भ ग्रन्थ –

१. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य

२. वेदान्त सन्दर्भ, महेश अनुसन्धान संस्थानम्, १९८९

३. आचार्य शंकर की भाष्य पद्धति, डॉ. लेखराम शर्मा, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९९९

४. Adi Shankar : Life and Philosophy, Swami Gyananand Saraswati, Neeta Prakashan, New Delhi-6

५. भारतीय जीवन–दृष्टि, शशिप्रभा कुमार, विद्यानिधि प्रकाशन, नई दिल्ली, २००९

६. उपनिषद् अंक, कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर।